आत्मतत्व

आत्म तत्व एक मात्र सनातन सत्य के रुप में सदैव से हमारे जीवनचक्र के साथ रहा है और रहेगा और उसका स्वरुप भी सुस्पष्ट है क्योंकि वो शुद्ध , शान्त , सर्वव्यापी और सदैव से है।
वो अपने अन्दर कुछ और समाहित भी नहीं करता और साथ भी नहीं छोडता जीव का जीवनचक्र की किसी भी अवस्था में।
इस बात को एक उदाहरण से समझाते हैं। जैसे एक माता पिता अपने बच्चे को लेकर खेल के मैदान में जाते। बच्चे वहाँ उपलब्ध खेलने के विकल्प और साथी में अपनी इच्छा से चुनाव करता और खेलता रहता।
माता पिता सदैव उस पर नजर रखते, उसे पूर्व से भी सिखा कर लाते (संस्कार) कि क्या करना है और क्या नहीं करना और खेलने के क्रम मे भी समय समय पर समुचित करने को उत्प्रेरित करते रहते।
ऐसा इसलिए कि बच्चे सुरक्षित भी रहें और संरक्षित भी।अनेक प्रकार की पहले से सीखी समझी बात बच्चे के काम आती। वो मगन होकर खेलता। खेलने के क्रम में लगभग भूल ही जाता कि माता पिता(आत्म) भी साथ हैं।
यह बात तब याद आती जब नियत समय पर बच्चे को या तो अन्धेरा होने पर या मैदान के बन्द होने के समय के कारण बच्चे को घर वापस जाना ही होता है। उसकी इच्छा सदैव से खेल के मैदान मे बने रहने की ही होती है।
सोच कर देखें कितना उचित है ऐसा होना। इतना ही नहीं।
रात में भी खेलने का स्वप्न देखता। जगे में भी अपने बल-बुद्धि केअनुरूप खेल की कल्पना में रहता। उसको हराता। उससे जीतता।
धीरे धीरे सारे खेल सीख जाता। प्रवीणता प्राप्त कर लेता। अनुभव और सीख की पूर्णता के बाद उसका मन फिर उन खेलों में लगेगा ? कभी नहीं।
अब उसे या तो नये खेल जगत की इच्छा हो गया अब वो मैदान में दूसरे बच्चों को खेल सीखाने जाएगा। उसका अपना कार्य अनुभव तो पूरा हो गया।
मानव के जीवनचक्र को समझने में यह छोटा सा उदाहरण बहुत सहायक है।
आप देखें। सम्पूर्ण जीवन भर माता पिता रुपीआत्मतत्व न केवल हमारे संग रहता बल्कि क्षण-क्षण मार्गदर्शन करा करा कर अपनी अनिवार्य उपस्थिति भी अंकित करता।
अब बच्चा जिद करके उसकी बात ना माने और मनमानी करे तो भुगतेगा। कभी चोट लगेगी कभी दर्द हो सकता जो आज कष्ट दे या कलअवसाद दे।
कर्म संचित हों या प्रारब्ध। कर्मफल अवस्यमभावी होते।
इसी हेतु जीवात्मा जन्म ,कर्म और अहंकार के दुश्चक्र में उलझा रहता।
कभी जीवन से प्रारम्भ होकर अहंकार पर समाप्त होता पर कितना दुःखदायी है कि एक मात्र जीव के अहंकार के कारण ही जीवन का पुनः प्रारम्भ होता।
यह दुश्चक्र अनन्तकाल और जन्मो से है। जीवन और अहंकार के मध्य कर्म सदैव से आता रहा है। परन्तु उसकी अपनी भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण है।

आत्मतत्व

दुनियाँ का प्रत्येक धर्म कहता कि ऐसे कर्म नहीं करने चाहिए जो गलत हों। पर क्या गलत है और क्या सही यह बताते समय देश काल और परिस्थिति देखकर बात करता।
मतलब धर्म उचित अनुचित को गढता है। लोभ भी देता। भ्रम जाल भी फैलाता।
ऐसा करोगे तो ये मिलेगा। स्वर्ग-नर्क भोग-विलास ,दान-पुण्य का सनातन धर्म आधारित विवेचना तो फिर भी चलो सही दिशा मे ले जाता क्योंकि ऐसा कर यह अहंकारतत्व जो नवजीवन का बीज होता ,को समाप्त करने में सहायक होता।
पर अन्य धर्मों में जो ऐसे कर्म करने की प्रेरणा मिलती जिससे अहंकारअर्थात नयेजीवन का दुश्चक्र जन्म लेता वो तो प्रगति का मुख्यमार्ग हीअवरुद्ध कर देता।
ऐसे कर्म करने को प्रेरित करना जो संचित कर्मभोग का पहाड खडा कर दे, तो द्रष्टाभाव मे रहते हुए भी आत्म कुछ कर नहीं पाता। उदाहरण के लिए दूसरे किसी जीव अथवा मानव की हत्या कर पारितोषिक प्राप्त करने की परिकल्पना मात्र उस धर्म के पाखंड को स्पष्ट करता है।आचरण किसी से गलती और माफी किसी और से मिलने का वादा। ये अपेक्षा ही आध्यात्मिक सिद्धांत के विरुद्घ है। धर्म मानवरचित असत्य है और आध्यात्मिक जगत शाश्वत सत्य। जितनी जल्दी ये बात समझ में आ जाती उतनी जल्दी सँकट दूर हो जाता।
पर क्या जन्म ~कर्म ~अहंकार अथवा उल्टा क्रम अहंकार ~कर्म ~जन्म की चक्र गति को समझने का समय है हमारे पास ? क्या हमारा पाखंड हमारे मार्ग मे खडा नहीं है? क्या हम आंख बन्दकर सूरज की उपस्थिति जैसी सत्यता को नकार नहीँ रहे?
इन प्रश्नों के उत्तर स्वयं से पूछें।
नहीं तो फिर कभी हमलोग साथ मिलकर उत्तर ढूढने का प्रयास करेगें।
मोहनाथमिश्र
YOS~MIS